

विनयपत्रिका में आत्मनिवेदन का भाव

निर्मला निठारवाल

पी-एच.डी. शोधार्थी, हिन्दी-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़, पंजाब भारत।

प्रस्तावना

आत्मनिवेदनासक्ति में भक्त आत्म-निरीक्षण करता है और अपने प्रत्येक दुष्कृत्य पर पश्चाताप करता है। इससे उसमें दैन्य का उदय होता है और वह अपनी अत्यन्त दुःखद स्थिति का वर्णन अपने आराध्य के समक्ष करता है तथा अन्तर्मन से अपने को प्रभु के प्रति समर्पित कर देता है। आत्म-निवेदन नवधा भक्ति का अन्तिम एवं सर्वप्रमुख अंग है। भगवान् के प्रति सर्वतोभावेन किया गया आत्म-समर्पण 'आत्म-निवेदन' कहलाता है। इसमें भक्त केवल कृपाकांक्षी होता है। आत्म-समर्पण कर वह निष्चित हो जाता है। उसके कल्याण का सम्पूर्ण दायित्व भगवान् पर होता है। श्रीमद्भागवत की स्तुतियों में भक्तों की आत्मनिवेदन की भावना का विषय प्रकाशन हुआ है—

“हरे तवाङ्घ्रिपङ्कजं भवापवर्गमाश्रिताः।
यदेष साधुहृच्छायस्त्वयासुरः समापितः।।”¹

अर्थात् “प्रभो! आपने सज्जनों के हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाले इस दुष्ट को समाप्त कर दिया। इसलिये हम आपके उन चरणकमलों की शरण में हैं, जिनके प्राप्त होते ही जन्म-मृत्युरूप संसारचक्र से छुटकारा मिल जाता है।”² इस प्रकार भगवान् के चरणों में पूर्ण समर्पण होने से भक्त इस संसार सागर से पलक-झपकते ही पार हो जाता है। जो ईश्वर को अपना सर्वस्व त्याग देता है उसके सभी कार्य भगवान् स्वयं करते हैं। इस प्रकार भगवान् की शरण में जाना ही आत्मनिवेदन है। आलवारों में शठकोप आलवार का मानना था कि “भाव की तुलना में पार्थिव पदार्थों द्वारा प्रभु की पूजा करना निकृष्टतर है। भक्त के हृदय में प्रभु के लिये विषुद्ध श्रद्धा और प्रेम की भावना ओतप्रोत होनी चाहिए। प्रभु के अनुग्रह से सब कुछ प्राप्त हो सकता है। लौकिक लाभ को वे प्रभु-प्रपत्ति के समक्ष तुच्छ समझते हैं और आत्म-निवेदन द्वारा अपने पापों को प्रभु के आगे खोलकर रख देते हैं। भक्त को केवल अपने सर्वस्व का समर्पण प्रभु के लिये करना है तत्पश्चात् उसे किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। प्रभु का प्रेम अहेतुक है और वह भक्त को अनायास प्राप्त है।”³ इस प्रकार आत्मनिवेदन के भाव द्वारा भक्त अपने हृदय की सारी स्थिति अपने आराध्य के समक्ष खोलकर रख देता है। आखिर भक्त अपनी दुख गाथा किसे सुनावे? पहले तो यहाँ कोई सुनने वाला ही नहीं है फिर जो सुनेगा भी, वह या तो हँसेगा या सुनकर थोड़ी सी सहानुभूति दिखा देगा। कष्टों को दूर करने की शक्ति प्रभु के अतिरिक्त यहाँ किसी में भी नहीं है। कबीर ने भी एक स्थल पर भक्त की भगवान् के प्रति कैसी सुन्दर आत्मसमर्पण की भावना व्यक्त की है—

“तुम्हें बिन राम कवन सों कहिये। लागी चोट बहुत दुख सहिये।।”⁴

इस प्रकार कबीर ने लिखा है कि भक्त में अपना सर्वस्व त्यागने की भावना होती है। सब कुछ भगवान् का है फिर मोह क्यों किया जाय, भक्त भगवान् के चरणों में अपना तन, मन, धन सर्वस्व समर्पित

करके भक्ति करता है। कबीर ने भी तन, मन समर्पित किया, तब प्रभु ने सत्य प्रकाशस्वरूप दर्शन दिये और तब वे हरिभक्त बन सके।

“तन-मन सीस समरपन कीन्हां। प्रगट जोति तहां आतमलीनां।।
परम प्रकाष सकल उजियारा। कहै कबीर मैं दास तुम्हारा।।”⁵

कबीर इतने ऊँचे पद पर विनय के द्वारा ही पहुँच सके हैं। इसी से उनका गर्व उच्चतम मनुष्यता का प्रेममय गर्व है जिसकी आत्मा विनय है। सच्चे भक्त की भाँति उन्होंने परमात्मा के महत्त्व और अपनी हीनता का अनुभव किया है—

“तुम्हें समानि दाता नहीं, हम से नहीं पापी।”⁶
“माधो मैं ऐसा अपराधी तेरी भगति हेतु नहीं साधी।”⁷

इस प्रकार कबीर ने विनय के इन पदों में भगवान् में गहरी आस्था, भक्त का पूर्ण आत्म-समर्पण, संसार की निस्सारता, और उपास्य के सम्मुख उपासक की दीनता का इतना सर्वांगपूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार आत्मनिवेदन के अन्तर्गत भक्त अपने (भगवान्) आराध्य के सामने अपने हृदय की सभी परतों को उघाड़ कर रख देता है। जो बातें वह समाज के सामने नहीं कह सकता क्योंकि उसे डर है कि ऐसा करने पर समाज उस पर लौंछन लगायेगा। वही सब बातें वह अपने आराध्य के सामने बड़े सहज ढंग से प्रकट कर देता है। जैसे कि मनुष्य से समाज (संसार) में रहते हुए बहुत से पाप हो जाते हैं। चाहे-अनचाहे बहुत से गलत कार्य हो जाते हैं लेकिन इन पापों के बारे में समाज में नहीं चर्चा कर सकते क्योंकि ऐसा करने पर समाज में हमारी बदनामी होती है लेकिन वही सब बातें हम अपने आराध्य के सामने खुलकर बता सकते हैं कि हे ईश्वर मेरे से संसार में रहते हुए ये पाप हो गये हैं तथा मैं बहुत बड़ा पापी हूँ। यहाँ तक कि पापियों में अग्रगण्य हूँ। यही आत्मनिवेदन है। भक्त के द्वारा ईश्वर के सामने अपने आपको पूर्णतः खोलकर रख देना ही आत्मनिवेदन है। तुलसीदास ने कलिकाल से मुक्ति का एक ही उपाय बताया है—भगवान् के प्रति अनन्य भाव से आत्मनिवेदन। इसलिए सबकी आशा छोड़कर तुलसीदास लिखते हैं—

“कहाँ जाऊँ, कासों कहाँ, और ठौर न मेरे।
जनम गँवायो तेरे ही द्वार किंकर तेरे।।
मैं तो बिगारी नाथ सों आरतिके लीन्हें।
तोही कृपानिधि क्यों बनै मेरी-सी कीन्हें।।
दिन-दुरदिन दिन-दुरदसा, दिन-दुख दिन-दूषण।
जब लौं तू न बिलोकिहै रघुबंस-बिभूषण।।
दई पीठ बिनु डीठ मैं तुम बिस्व-बिलोचन।
तो सों तुही न दूसरो नत-सोच-बिमोचन।।
पराधीन देव दीन हौं, स्वाधीन गुसाईं।
बोलनिहारे सों करै बलि बिनयकी झाईं।।
आपु देखि मोहि देखिये जन मानिय सौँचो।
बड़ी ओट रामनामकी जेहि लई सो बाँचो।।

रहनि रीति राम रावरी नित हिय हुलसी है।
ज्यों भावे त्यों करू कृपा तेरो तुलसी है।⁸

अर्थात् “कहाँ जाऊँ? किससे कहूँ? मुझे कोई और ठौर ही नहीं। इस तेरे गुलामने तो तेरे ही दरवाजे पर (पड़े-पड़े) जिन्दगी काटी है। मैंने तो जो अपनी करनी बिगाड़ी सो हे नाथ! दुःखों से घबराया हुआ होने के कारण बिगाड़ी। परन्तु हे कृपानिधे! यदि तू भी मेरी करनीकी ओर देखकर फल देगा तो कैसे काम चलेगा? हे रघुकुलमें श्रेष्ठ! जबतक तू (इस जीवकी ओर कृपादृष्टिसे) नहीं देखेगा, तब तक नित्य ही खोटे दिन, नित्य ही बुरी दशा, नित्य ही दुःख और नित्य ही दोष लगे रहेंगे। मैं जो तुझे पीठ दिये फिरता हूँ, तुझसे विमुख हो रहा हूँ, सो मैं तो दृष्टिहीन हूँ, अन्धा हूँ (अज्ञानी हूँ) पर तू तो सारे विश्व का दृष्टा है! (तू मुझसे विमुख कैसे रहेगा?) तुझ सा तो तू ही है, तेरे सिवा दीन-दुःखियों के शोक हरने वाला दूसरा कोई नहीं है। हे देव! मैं परतन्त्र हूँ, दीन हूँ, पर तू तो स्वतन्त्र है, स्वामी है। तेरी बलिहारी! (चैतन्यरूप) बोलने वाले से उसकी परछाई क्या विनय कर सकती है? अतएव तू पहले अपनी ओर देख, फिर मेरी ओर देख, तभी इस दास को सच्चा मानना। राम—नामकी ओट बड़ी भारी है। जिस किसी ने भी राम—नामकी ओट ले ली वह (जन्म मरण के चक्र से) बच गया। हे राम! तेरी रहन-सहन सदा मेरे हृदय में हुलस रही है, तेरे शील-स्वभाव विचारकर मैं मन ही मन बड़ा प्रसन्न हो रहा हूँ कि अब मेरी सारी करनी बन जायगी। बस, यह तुलसी तेरा है, जिस तरह हो, उसी तरह इस पर कृपा कर।⁹ इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! मुझे अपने चरणों में शरण दे ताकि मैं इस संसार सागर को आसानी से पार कर सकूँ। तुलसी निष्णात भक्त हैं। तुलसी दास्य-भाव के भक्त हैं— उस दास्य भाव के जिसमें भक्त अपने को लघुत्तम एवं तुच्छतम मानता है तथा अपने भगवान् को महत्तम घोषित करता है। तन-मन सब-कुछ वह इष्ट के चरणों में अर्पित कर केवल उसका गुणगान करता हुआ जीवन बिता देता है। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य के सम्मुख अपनी व्यथा खोलकर रख देते हैं। तथा अपने को निम्न व तुच्छ बतलाते हुए प्रभु से अपनी शरण में लेने का आग्रह करते हैं यही आत्मनिवेदन है। इसी प्रकार का एक और उदाहरण निम्न है—

कृपासिंधु! जन दीन दुवारे दादि न पावत काहे।
जब जहँ तुमहिं पुकारत आरत, तहँ तिन्हके दुख दाहे॥
गज, प्रहलाद, पांडुसुत, कपि सबको रिपु-संकट मेटयो।
प्रनत, बंधु-भय-बिकल, विभीषण, उठि सो भरत ज्यों भेटयो॥
मैं तुम्हरो लेइ नाम ग्राम इक उर आपने बसावों।
भजन, बिबेक, बिराग, लोग भले, मैं क्रम-क्रम करि ल्यावों॥
सुनि रिस भरे कुटिल कामादिक, करहिं जोर बरिआई।
तिन्हहिं उजारि नारि अरि-धन पुर राखहिं राम गुसाई।
सम-सेवा-छल-दान-दंड हों, रचि उपाय पचि हारयो।
बिनु कारनको कलह बड़ो दुख, प्रभुसों प्रगटि पुकारयो॥
सुर स्वारथी, अनीस अलायक नितुर, दया चित नाहीं।
जाउँ कहाँ, को बिपति निवारक, भवतारक जग माहीं॥
तुलसी जदपि पोच, तउ तुम्हरो, और न काहू केरो।
दीजै भगति- बाँह बारक, ज्यों सुबस बसै अब खेरो।¹⁰

अर्थात् “ हे कृपासागर। यह तुम्हारा दीन जन तुम्हारे द्वारपर सहायता क्यों नहीं पाता? जब जहाँपर, दुःखियों ने तुम्हें पुकारा, तब वहीं पर तुमने उनके दुख दूर कर दिये। गजराज, प्रहलाद, पाण्डव, सुग्रीव आदि सबके शत्रुओं से दिये गये कष्ट तुमने दूर कर दिये। भाई रावण के डर से व्याकुल शरणागत विभीषण को उठाकर तुमने भरत की नाई हृदय से लगा लिया (फिर मेरे लिये ही ऐसा क्यों

नहीं होता)। मैं तुम्हारा नाम लेकर अपने हृदय में एक गाँव बसाना चाहता हूँ और उसमें बसाने के लिये मैं धीरे-धीरे भजन, विवेक, वैराग्य आदि सज्जनों को इधर-उधर से लाता हूँ। पर यह सुनकर क्रोधित हो दुष्ट काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि जबरदस्ती करते हैं और उन बेचारे भजन आदि भले आदमियों को निकाल-निकालकर, हे प्रभो! उस गाँव में दुष्ट स्त्री, शत्रु और धन आदि नीचों को ला लाकर बसाते हैं। साम, दाम, दण्ड, भेद और सेवा— टहल करके तथा और अनेक उपाय करके मैं थक गया हूँ तब हे प्रभो! इस बिना ही कारण की लड़ाई के इस महान् दुःख को आज मैंने तुम्हारे सामने खुलकर निवेदन कर दिया है। (तुम्हारे सिवा यह दुख और सुनाता भी किसे, क्योंकि) देवता तो स्वार्थी, असमर्थ, अयोग्य और निष्ठुर हैं। उनके चित्त में तो दया नहीं है। मैं कहाँ जाऊँ? (तुम्हारे सिवा) कौन विपत्ति दूर करने वाला है? कौन इस संसार-सागर से पार उतारनेवाला है? तुलसी यद्यपि नीच है, पर है तो तुम्हारा ही, और किसी का गुलाम तो नहीं है। अपना जानकर एक बार भक्तिरूपी बाँह दे दो; जिससे यह (तुम्हारे नाम का) गाँव अच्छी तरह आबाद हो जाय। अर्थात् हृदय में तुम्हारी भक्ति के प्रताप से भजन, ज्ञान, वैराग्यका विकास होकर काम-क्रोधादि का नाश हो जाय।¹¹ इस प्रकार तुलसीदास अपने प्रभु से अपने अवगुणों को स्पष्ट करते हुए भगवान् को अपनी शरण में ले लेने का निवेदन करते हैं। इस प्रकार राम के चरणों में शरणागति तुलसी का एकमात्र ध्येय हैं। अन्य कोई भी स्पृहा उनके मन में नहीं है। यही आत्मनिवेदन है जिसमें भक्त को केवल अपने आराध्य का स्मरण रहता है और वह अपने आपको अपने आराध्य के समक्ष पूर्णतः खोलकर रख देता है।

रामचंद्र! रघुनायक तुमसों हों बिनती केहि भाँति करों।
अघ अनेक अवलोकि आपने, अनघ नाम अनुमानि डरों॥
पर-दुख दुखी सुखी पर-सुख ते, संत सील नहिं हृदय धरौं।
देखि आनकी बिपति परम सुख, सुनि संपति बिनु आगि जरौं॥
भगति-बिराग-ग्यान साधन कहि बहु बिधि डहकत लोग फिरौं।
सिव-सरबस सुखधाम नाम तव, बँचि नरकप्रद उदर भरौं॥
जानत हौं निज पाप जलधि जिय, जल-सीकर सम सुनत लरौं।
रज-सम पर-अवगुन सुमेरु करि, गुन गिरि-सम रजतें निदरौं॥
नाना वेष बनाय दिवस-निसि, पर-बित जेहि तेहि जुगुति हरौं।
एकौ पल न कबहुँ अलोल चित हित दै पद-सरोज सुभिरौं॥
जो आचरन बिचारहु मेरो, कलप कोटि लागि औटि मरौं।
तुलसिदास प्रभु कृपा बिलोकनि, गोपद-ज्यों भविसिंधु तरौं॥¹²

अर्थात् “हे रघुकुलश्रेष्ठ रामचन्द्रजी! मैं किस प्रकार तुमसे विनय करूँ? अपने अनेक अधों (पापों) की ओर देखकर और तुम्हारा अनघ (पापरहित) नाम विचारकर डर रहा हूँ। दूसरे के दुख से दुःखी तथा दूसरे के सुख से सुखी होना संतों का शील स्वभाव है, उसे तो मैं कभी हृदय में धारण ही नहीं करता। प्रत्युत दूसरों की विपत्ति देखकर परम सुखी होता हूँ और दूसरों की सम्पत्ति सुनकर तो बिना ही आग के जला करता हूँ। भक्ति, वैराग्य, ज्ञान आदि के साधनों का उपदेश देता हुआ मैं लोगों को भाँति-भाँति से टगता फिरता हूँ और शिव के सर्वस्व तथा आनन्द के धाम तुम्हारे राम-नाम को बेच-बेचकर नरकमें जाने वाले (पापी) पेट को भरता हूँ। मन में जानता हूँ कि मेरे पाप समुद्र के समान अपार हैं परन्तु जब दूसरे किसी के मुख से अपने पापों के लिये यह सुनता हूँ कि मेरे में पानी की बूँद के बराबर भी पाप हैं तब उससे लड़ने लगता हूँ। भाव यह है कि महापापी होने पर भी लोगों के मुख से परम पुण्यात्मा ही कहलाना चाहता हूँ, परन्तु दूसरों के धूल के कण के समान मामूली दोषों को भी सुमेरु पर्वत के समान बढ़ाकर बतलाता हूँ। और उनके

पर्वत के समान (महान्) गुणों को धूलके समान तुच्छ बतलाकर उनका तिरस्कार करता हूँ (मेरी ऐसी करनी है।) भाँति-भाँति के भेष बना-बनाकर दिन-रात जिस किसी भी उपाय से दूसरों का धन हरण करता हूँ। कभी एक पल भी स्थिरचित्त होकर प्रेम से तुम्हारे चरण-कमलों का स्मरण नहीं करता। यदि तुम मेरे आचरणों पर विचार करने लगोगे तब तो मुझे करोड़ों कल्पतक संसाररूपी कड़ाह में औँट-औँटकर जल मरना पड़ेगा, जन्म मरण से कभी नहीं छूटूँगा। पर यदि तुम एक बार कृपादृष्टि कर दोगे, तो हे प्रभो! मैं तुलसीदास उसी के प्रभाव से इस संसार-सागर को गाय के खुर के समान सहज ही पार कर जाऊँगा।¹³ इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य श्री राम से कहते हैं कि हे प्रभु आपसा दयालु और कोई नहीं है। इसलिए तुलसीदास अब तेरी शरण छोड़कर कहीं नहीं जायेगा। इस प्रकार विनयपत्रिका में तुलसीदास ने अपना अन्तःकरण अपने आराध्य के समक्ष पूर्णतः खोलकर रख दिया है। “उन्होंने अपने अन्तःस्तल की सभी सान्द्र-श्रील अनुभूतियों को रसित द्राक्षा की तरह निचोड़कर रख दिया है।¹⁴ तुलसीदास अपने अवगुणों को स्पष्ट करते हुए भगवान् को अपनी शरण में ले लेने का निवेदन करते हैं। इस प्रकार आत्मनिवेदन में भक्त का एकमात्र ध्येय शरणागति है। इसी ध्येय अथवा उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तुलसीदास ने ‘विनयपत्रिका’ में विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति की है। सभी देवी-देवताओं की स्तुति करते हुए वे अंत में राम-भक्ति प्राप्त करने का ही वरदान मागते हैं- अन्य कोई भी स्पृहा उनके मन में नहीं है। यही आत्मनिवेदन है जिसमें भक्त को केवल अपने प्रभु का ही ध्यान रहता है तथा अपना सब-कुछ आराध्य के समक्ष खोलकर रख देता है। इसी कारण ‘विनयपत्रिका’ को उच्च स्थान प्राप्त है।

संदर्भ ग्रंथ

1. महर्षिवेदव्यास-प्रणीतः ‘श्रीमद्भागवतमहापुराण’ प्रथम-खण्ड, स्कन्ध 1 से 8 तक, गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण सं. 2071, पृ. 855 7/8/51।
2. वही, पृ. 855 7/8/51।
3. शर्मा, मुंशीरामः ‘भक्ति का विकास’, चोखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1, संस्करणः 1958, पृ. 358।
4. श्यामसुंदरदास सं०: ‘कबीर ग्रंथावली,’ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सातवां संस्करणः 2016।
5. श्यामसुंदरदास सं०: ‘कबीर ग्रंथावली,’ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सातवां संस्करणः 2016।
6. वही, पृ. 45।
7. वही, पृ. 42।
8. तुलसीदासः ‘विनय-पत्रिका, ‘पृ. 192, पद-149।
9. तुलसीदासः ‘विनय-पत्रिका, ‘पृ. 192-193, पद-149।
10. तुलसीदासः विनय-पत्रिका, गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करणः सं. 2065, पृ. 187, पद - 145।
11. तुलसीदास : ‘विनय-पत्रिका, पृ. 187-188, पद-145।
12. तुलसीदास : ‘विनय-पत्रिका, पृ. 181, पद-141।
13. तुलसीदास : ‘विनय-पत्रिका, पृ. 182, पद-141।
14. कुमार, वचनदेवः तुलसीः विविध सन्दर्भों में, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1977,पृ. 201।